टेलीविज़न सत्याग्रह के वे दिन

बाप्सी सिध्वा

एक बार जब फ़ैसला ले लिया गया तो हमने राहत की सांस ली। बहस-मुबाहिसों और गलबात का वह छूटा हुआ सिलसिला शिद्दत से याद आने लगा और हमने जो खो दिया था उसको पा लेने की हड़बड़ी मच गई। सन् 1965 की शरद ऋतु के शुरुआती दिन थे और नवबंर में सफ़ेद-स्याह टीवी को पाकिस्तान में अपना प्रथम दर्शन देना था। तो वक़्तन-फ़वक़्तन 'स्टैंड' लेने वाले मेरे शौहर नौशीर ने तय किया कि वे टेलीविज़न सेट नहीं ख़रीदेंगे; हमें 'बुद्धू बक्से' की लत नहीं लगानी है।

उन दिनों मेरे अपने भी कुछ ख़याल थे और मैंने इस फ़ैसले में अपनी हामी भर दी। लाहौर में अफ़वाहों का बाज़ार गर्म था। अपने बीच टेलीविज़न के चमत्कार को लेकर लगायी जा रही अटकलों के साथ-साथ विकसित दुनिया में शुमार होने का ख़याल तोषप्रद था। लेकिन हमारे परिवार ने चौतरफ़ा बढ़ते दबावों को ख़ामोश घृणा से नज़रअंदाज़ किया। नौकरों की फुसफुसाहट में भी जो दबे-ढंके इल्ज़ामात थे, उनकी अनसुनी करते हुए हम टीवी-विहीन रहने के अपने निश्चय पर अटल रहे।

कुछ सालों बाद, हिन्दुस्तान ने भी अपने प्रारंभिक टीवी स्टेशन स्थापित किए और लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब अमृतसर टीवी चैनल लाहौर में दिखने लगा। हालाँकि इसमें ताज्जुब जैसी कोई बात नहीं थी — टीवी तरंगें तो कहां-कहां नहीं जातीं और अमृतसर से लाहौर तो महज़ बीस मील है। लेकिन अमृतसर तो पास होते हुए भी हमारे लिए जैसे अलास्का में था। दोनों सरकारों की सख़्त पाबंदी के चलते दो पड़ोसी शहरों के बीच संचार न के बराबर था। तो, जैसे ही अमृतसर से हिंदुस्तानी समाचार और डॉक्युमेंटरी हमारे टीवी के पर्दों पर आने लगे, यह खाई अप्रत्याशित रूप से पट गई।

हालाँकि हम राजनीति और ख़बरों के पुराने आदी थे — यहां ह्यूस्टन में भी हमारी शामें आमतौर पर राजनीतिक गपशप ही रंगीन करती हैं — नौशीर और मैंने अपना बहिष्कार जारी रखा। मुझे मान लेना चाहिए कि उसके इस 'स्टैंड' के पीछे जो ठीक चिंता या समझ थी उसे ठीक-ठीक समझने में मुझे थोड़ा वक़्त लगा। गप्प देना उसकी आदत है और इसी गप्पबाज़ी के लिए बंबई में पारसियों को 'कागरा-खाव' या कौआ-ख़ोर की उपाधि से नवाज़ा जाता है — मुझे लगता है कि टीवी दोस्तों के साथ होने वाली उसकी बैठक के बहस-मुबाहिसों में ख़लल डालेगा, इसका उसे डर था। उसने यह कहा भी: टीवी सभ्य वाद-विवाद का ख़ात्मा कर देगा। उसके शाम के दोस्तों को

ख़ामोश और बेवकूफ़ पुतलों में तब्दील कर देगा। उसका कहना इतना ग़लत भी नहीं था। तब से लेकर अब तक, केबल और विडियो के अतिरिक्त दबाव ने महिलाओं की पर-निंदा-पर-चर्चा और गलबाती सत्रों तथा पुरुषों के सियासी मुबाहिसों में अच्छी सेंध लगाई है। मनोरंजन के ताज़ातरीन साधन होने की वजह से पाकिस्तानी टेलीविज़न पाकिस्तानी सिनेमा की पारंपरिक रूढ़ियों से आज़ाद था। पाकिस्तानी सिनेमा की तमाम अभिनेत्रियाँ जहाँ सिर्फ़ हीरा मंडी की नर्तकियां होती थीं, टीवी ने अच्छे-भले घरों की प्रतिभाशाली महिलाओं को भी आकर्षित किया। सच तो यह है कि इस नई प्रतिभा के साथ-साथ रचनात्मकता ने पाकिस्तानी टीवी को भारतीय टीवी की नाटक-आदि प्रस्तुतियों की स्पर्धा में सालों तक बेहतर स्थिति में रखा।

लेकिन हिंदुस्तानी टीवी के पास एक चीज़ थी जो पाकिस्तानी टीवी के पास नहीं थी। इसके पास भारतीय फ़िल्मों का एक ऐसा बड़ा ज़ख़ीरा था जिसे पाकिस्तानी जनता ने नहीं देखा था। लिहाज़ा अपनी पुरानी ख़ामियों की भरपाई करने के लिए हिन्दुस्तानी टीवी ने हिंदुस्तानी फ़िल्मों की बाढ़ ला दी। और जिस फ़िल्म से यह सब शुरु हुआ, वह थी मशहूर फ़िल्म *पाकीज़ा*। मीना कुमारी और राजकुमार अभिनीत इस फ़िल्म में लता मंगेशकर और मोहम्मद रफ़ी के ढेर सारे गाने थे। इसको लाहौर में इतनी ख्याति मिल चुकी थी कि कुछ लाहौरियों ने तो बाक़ायदा वीज़ा लेकर अमृतसर जाकर इसे देखने की ज़हमत क़बूल कर ली थी।

यह अफ़वाह 70 लाख लाहौरियों में बिजली की तरह फैल गई कि उस ख़ास जुमेरात को अमृतसर टीवी *पाकीज़ा* दिखाएगा। कई दिनों तक कोई और चर्चा नहीं हुई। पहले से लोकप्रिय इसके तराने हर घर, गाड़ी और दुकानों के बाहर सुने जा सकते थे। टीवी सेटों की बिक्री में इज़ाफ़े के साथ सड़कों पर टेलीविज़न सेटों के गत्ते के कार्टनों से लदी-फदी गाड़ियों और ठेलों का कारवां दीखने लगा।

जिनके पास अभी तक टीवी सेट नहीं थे — ज़्यादातर लोगों के लिए टीवी निहायत महँगा था — उन्होंने क़िस्मत वाले दोस्तों और परिचितों के यहाँ फ़िल्म देखने की लंबी-चौड़ी योजना बना डाली थी। हमारी ज़िद से हमारे नौकर विस्मित और परेशान थे और उन्होंने अब तक इस विषय पर बमुश्किल मुँह खोला था। लेकिन उन्होंने भी पूरी ढिठाई के साथ पूछना शुरु कर दिया कि फ़लां-फ़लां ने ले लिया, हम टीवी कब ले रहे हैं। वे अपने क्वॉर्टर्स में मंडली जमाकर या दोस्तों के ड्राइवरों के इर्द-गिर्द जमा होकर हमारे दिवालियापन के बारे में अटकलें लगाते होंगे, ऐसा मेरा अंदाज़ा है। *पाकीज़ा* दिखाए जाने के एक हफ़्ता पहले उनकी सेवाएं पहले तो अजीब ढंग से मुस्तैद और शालीन हो गईं और जब इससे कुछ बनता न दिखा तो घरेलू काम करते हुए उनके चेहरे लटकने लगे। माहौल से बग़ावत की बू आने लगी। कभी इन्हें इस घर में काम करने का ग़ुमान था लेकिन अब टीवी वाले पड़ोसियों से ईर्ष्या और हमसे जुड़े रहने में अपमान महसूस होने लगा। हम उनकी नज़रों से बचने लगे। और अपना रवैया कड़ा कर लिया।

जुमेरात की शाम आई और नौकर उड़न छू! फ़ोन या दीगर ज़रिए से दोस्तों से संपर्क करना दूभर हो गया। ख़ुद को तन्हा और त्यक्त तथा इस ऐतिहासिक-से लगते अवसर से वंचित महसूस करते हुए हमने कैंटोनमेंट में अपने टीवी-दार दोस्तों नीलोफ़र और फ़ख़र मजीद के यहां जाने का फ़ैसला किया। जब फ़ैसला हो गया तो एक फ़ौरी सुकून मिला और आख़िर वह दिन आ ही गया — शरद का वह वीरवार जब शाम 7.00 बजे *पाकीज़ा* दिखायी जानी थी। छोटे-छोटे ढाबों और चाय की दुकानों ने अपने अहातों के आगे सूरजमुखी छाप शामियाने-तंबू टांग लिए, और समोसा-चाय आदि पीने वालों के लिए अतिरिक्त कुर्सियां डाल दीं। जिनकी इतनी औक़ात भी नहीं थी उनके खड़े होने या बैठने की जगह का बंदोबस्त किया गया।

फ़क़त चार मील की वह यात्रा याद रहेगी। चुप्पी की चादर लपेटे हुए लाहौर जैसे भूतों का शहर हो गया था। हमारे घर के पास ही मेन गुलबर्ग मार्केट था पर मार्केट की गहमागहमी नदारद थी। हमारी वोक्सी गाड़ी को छोड़कर हर चीज़ निस्पंद। आमतौर पर खचाखच ट्रैफ़िक वाली सड़कों पर न तो बच्चे थे, न एक भिखारी और न ही कोई कुत्ता। हमें कर्फ़्यू में चलने का अहसास हुआ। तो उसी आलम में हम इस शहर-व्यापी जलवे में शिरकत करने के लिए जल्दी-जल्दी निर्जन गलियों में बढ़ते गए।

कैंटोनमेंट में हमारा स्वागत कालीन-बिछे, भीड़-भरे, ख़ामोश कमरे ने किया और हमने जैसे-तैसे ठंस-ठंसाकर अपने लिए दरी पर जगह बनाई। हमने पूरी फ़िल्म देखी — एक ख़ामोश दृढ़ता के साथ। पर्दे पर सफ़ेद-स्याह, आड़ी-तिरछी रेखाओं और बर्फ़ानी बूंदों के झटकों के बीच कभी-कभार कोठे पर अश्रुपूरित आँखों और हसीन अदाओं

वाली मीनाकुमारी की झलक दीख जाती थी। हमारे मेज़बान ट्रैकिंग नॉब को दाएं-बाएं घुमा रहे थे और दर्शक दीर्घा उनको मददगार सलाह देती जाती। बड़े ही सही ठिकाने पर अवस्थित एक लड़का – जो परदे पर नज़र रखे हुए जब चाहे बाहर निकल सकता था – छत पर खड़े ऐंटिना दुरुस्त करते हुए दूसरे लड़के से सतत संवाद कर रहा था। फ़िल्म अचानक साफ़ आने लगी और छत के लड़के को चिल्लाकर बताया गया कि एंटिना स्थिर हो गया, और दर्शकों ने अपनी हसरत पूरी होने पर ठंडी सांस ली। लगा कि पूरे शहर ने हसरत पूरी कर ली हो और मेलोड्रामा के प्रवाह और मीना कुमारी से सहानुभूति में रोने में जुट गया हो।

अगली सुबह नाश्ते पर मौक़े के मुताबिक़ संजीदा दीख रही हमारी आया ज़ोहरा ने अपने मैले-कुचैले दुपट्टे की गाँठ खोली और मुड़े-तुड़े एक रुपये के नोट को सीधा करते हुए मेरे पति के सामने डायनिंग टेबल पर रख दिया। इतने में चिमटा हाथ में लिए बावर्ची रसोई से प्रकट हुआ और उसने उतनी ही संजीदगी से एक और नोट हमारे सामने रख दिया। उसके बाद बैरे शुकरदीन, माली और झाड़ू-पोंछा वालों की बारी थी। जुम्मे का दिन था, इसलिए धोबी भी वहीं था और उसने भी नोटों के इस बेढब ढेर के ऊपर अपना नोट रखकर समारोह में शिरकत की। फिर वे सब अदब के साथ, पर बेचैन अंदाज़ में, टेबल के दूसरी ओर खड़े हो गए। तभी आमतौर पर उनकी अगुआई करने वाली, बड़बोली ज़ोहरा ने बाक़ायदा समारोहपूर्वक उनकी नुमाइंदगी करते हुए घोषणा की: यह हमारा योगदान है। हम सब आपको हर महीने तब तक चंदा देंगे जब तक आपके पास टीवी ख़रीदने के पूरे पैसे न हो जाएँ!

और हमारे घर अगले ही दिन टीवी लग गया।

अनुवादः रविकान्त